
इकाई 2 भारतीय विदेश नीति के अध्ययन के उपागम

इकाई की रूपरेखा

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 भारतीय विदेश नीति के राजनीतिक यथार्थवाद तथा जटिल नव-यथार्थवाद उपागम
- 2.3 अंतर-निर्भरता (परस्पर निर्भरता) तथा जटिल अंतर-निर्भरता पर विचार
- 2.4 नई विश्व व्यवस्था
- 2.5 गुटनिरपेक्षता एवं नेहरूवादी सर्वसम्मत
- 2.6 सारांश
- 2.7 अभ्यास

2.1 प्रस्तावना

भारतीय विदेश नीति से संबंधित साहित्य ने इस विषय के बारे में कई उपागम प्रस्तुत किए हैं। परंपरागत उपागम का क्षेत्र कई सिद्धांतों पर आधारित है जैसे यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, अंतर-निर्भरता (परस्पर निर्भरता) एवं जटिल अंतर-निर्भरता। यह उन उपागमों पर भी आधारित है जिनकी जड़ें आंतरिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक-राजनीतिक प्रकृति हैं, तथा जिनका केंद्र ऐतिहासिक अनुभवों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन तथा महात्मा गांधी एवं जवाहरलाल नेहरू जैसे भारतीय नेताओं के आदर्श और आकांक्षाएँ थीं।

प्रारंभ में ही, हमें दो विषयों पर बल देने की आवश्यकता है। प्रथम, प्रत्येक उपागम हमें भारतीय विदेश नीति को समझने में सहायता प्रदान करता है, परंतु विभिन्न दर्शनग्राही (उदार) संदर्भ में अध्ययन करने की जरूरत है। कोई भी एक उपागम भारतीय विदेश नीति के निर्माण और संचालन की जटिलता को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त इस उपलब्ध साहित्य की एक विशेषता है, जो इस देश की मूल है। इस कारण नीति निर्माता एवं कार्यवाहक अपनी इस प्रक्रिया को किसी अनम्य सैद्धांतिक ढाँचे के अनुरूप नहीं ढाल पाए।

लेकिन यह भी सही है कि विभिन्न उपागमों के अध्ययन ने सिद्धांतों तथा आदर्शों, प्रक्रिया एवं साधनों और उन कर्ताओं एवं शक्तियों पर महत्वपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि डाली है जो देश की विदेश नीति के निर्माण एवं कार्यान्वयन के लिए उचित साधन और उद्देश्यों का गठन करते हैं।

भारतीय विदेश नीति अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रतिक्रियाओं का मिश्रण मात्र नहीं है। चाहे कोई भी कारण हो - क्षेत्र का विस्तार, जनसंख्या, अर्थव्यवस्था, नेतृत्व इत्यादि - भारत ने निरंतर स्वतंत्र एवं उत्साहपूर्वक अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रिया में अपनी क्षमता और स्थिति के

अनुसार और अपने उत्तरदायित्वों से अभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रक्रियाओं को प्रभावित किया है।

2.2 भारतीय विदेश नीति के राजनीतिक यथार्थवाद तथा जटिल नव-यथार्थवाद उपागम

यह तर्क स्वयंसिद्ध है कि शायद अमेरिका को छोड़कर भारत की विदेश नीति के संस्थापक अथवा भारतीय युद्धनीतिज्ञों पर यथार्थवाद का अभिभावी प्रभाव रहा था। कम से कम छह अभिज्ञेय समूहों के सोपानक अर्थात् सैनिक, राजनयिक दूतवर्ग, नौकरशाही (जिसमें विदेश सेवा भी सम्मिलित है), राजनीतिक वर्ग, मीडिया एवं परिषद सदस्य से नीति विशेषज्ञ तथा विदेश नीति संगठन से वैज्ञानिकों एवं तकनीकीकर्ताओं के समुदाय भारत की विदेश नीति के निर्माण में सहायक हैं।

युद्धनीतिज्ञ समूह आपस में सम्मिलित हैं तथा राज शक्ति का व्यवहार समूह जैसे अन्य लोगों से ज्यादा उपयोग करते हैं - यद्यपि आर्थिक उदारीकरण के कारण व्यापार का प्रभाव बढ़ रहा है और यह विभिन्न सरकार-व्यापार परामर्शक प्रक्रियाओं में दिखाई पड़ता है। उक्त उल्लिखित छह अभिज्ञेय समूहों के मध्यम सोपानक भले ही प्रभाव न कर सकें, परंतु लोकप्रिय स्तर पर नीति को वैधता प्रदान करते हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि विदेश नीति एवं कूटनीति को विशिष्ट वर्ग ही प्रभावित करते हैं।

भारत के युद्धनीतिज्ञ राजनीतिक यथार्थवाद या साधारण यथार्थवाद की परिसीमा के अंतर्गत ही कार्य करते हैं। यह युद्धनीतिज्ञ स्वयं को दूरदर्शी, उत्तरदायी एवं अनुभवी मानते हैं और व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिए अभिमुखी या अनुकूल माने जाते हैं। ये युद्धनीतिज्ञ समूह तदर्थ तरीके से प्रतिक्रिया करते हैं। इसके विपरीत, ये युद्धनीतिज्ञ समूह विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने मूलभूत लक्ष्यों और साधनों से अभिन्न हैं।

राजनीतिक यथार्थवाद शक्ति को अंतरराज्यी संबंधों का आधार मानता है जोकि सामान्यतः संघर्षात्मक तरीका माना गया है, जहाँ प्रत्येक राज्य स्वार्थपरक तरीके से अपने हित की प्राप्ति में लगा रहता है। नव-यथार्थवाद राजनीति की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है, लेकिन यह भी मानता है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का आधार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था है, जोकि सिर्फ संघर्ष ही नहीं बल्कि पात्र या राज्यों के हितों के अभिसरण पर आधारित है। उक्त उल्लिखित दृष्टिकोण के अनुसार, बाह्य राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आंतरिक राष्ट्रीय एकता के साथ तीन प्रमुख लक्ष्य जुड़े हुए पाए गए हैं। दो अतिरिक्त लक्ष्य हैं, - तृतीय विश्व में तथा क्षेत्र के अंतर्गत नेतृत्व; एवं भारत के क्षेत्र, महत्ता और सामर्थ्य के अनुरूप राष्ट्र-राज्य के समूहों के बीच एक उचित स्थान।

इस उपागम की दो मान्यताएँ हैं। प्रथम, भारत राज्य की सुरक्षा सर्वोपरि है तथा इसे राष्ट्रीय हित माना जाता है। बाकी सभी तत्व एवं लक्ष्य इस बुनियादी राष्ट्रीय हित के

अधीनस्थ हैं। यह सभी राजनीतिक एवं युद्धनीतिज्ञ चिंतन एवं योजनाओं का मार्गदर्शक है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सुरक्षा की राजनीतिक-सैन्य शब्दावली में व्याख्या की गई है। यह माना जाता है कि भौतिक एवं सैन्य दृष्टिकोण से सुरक्षित राष्ट्रीय-राज्य समाज की एकता एवं कल्याण के लिए यह अत्यावश्यक है।

विदेशी प्रभुत्व एवं उपनिवेशवाद के अनुभव एवं विश्वास ने राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्य की महत्ता को और बढ़ा दिया है। यदि हम इतिहास की तरफ देखें तो एक बात स्पष्ट है कि जब-जब भारत का राज्यतंत्र विखंडनज एवं कमजोर रहा है, तब-तब देश विदेशी प्रभुत्व एवं शासन का शिकार रहा है। दूसरी मान्यता के अनुसार (जोकि प्रथम मान्यता से संबंधित है), अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था वास्तव में एक अंतर-राज्य व्यवस्था है। गैर-राज्य एवं परा-राज्य कर्ता/पात्र की उपस्थिति भी है, परंतु अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्य की केंद्रीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के वैधानिक एवं नैतिक मानदंड का सभी देशों द्वारा पालन किया जाना चाहिए। लेकिन, अंततः विश्व को बड़ी शक्तियाँ ही गठित करती हैं, क्योंकि उन्हीं के पास शक्ति है।

यह एक विवादास्पद विषय है लेकिन शक्ति की सुस्पष्टता राज्य की शक्ति के रूप में ही व्याख्या की गई है। ऐसा कहा जाता है कि भारत संभवतः एक विश्व शक्ति है, इसीलिए उसे अपने सामर्थ्य को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए, इसकी विदेश नीति को इस आकांक्षा को प्रतिबिंबित करना चाहिए तथा इसकी उपलब्धियों को प्रोत्साहित करना चाहिए। भारत का परमाणु एवं प्रक्षेपास्त्र (मिसाइल) विकास कार्यक्रम, अंतरिक्ष अनुसंधान तथा इसकी वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियाँ, असैनिक नियंत्रण के अधीन एक विशाल और पेशेवर सुरक्षा बल, एक अति-सक्षम नौकरशाह वर्ग, एक विशाल पेशेवर एवं कुशल जनसंख्या, एक दूरदर्शी नेतृत्व एवं भारतीय लोकतंत्र ये सभी तत्व राष्ट्रीय सुरक्षा एवं बड़ी शक्ति की पदवी को हासिल करने के लिए आवश्यक माने गए हैं।

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कुशल कूटनीति विदेश नीति की एक प्रमाण या छापी मानी गई, इंदिरा गांधी के नेतृत्व में सैन्य शक्ति का क्रमबद्ध विकास, तथा 1990 के पश्चात चतुराईपूर्वक महत्वपूर्ण शक्तियों को राजनीतिक एवं युद्धनीति संबंधित वार्ताओं में व्यस्त रखना भारतीय विदेश नीति की महत्वपूर्ण क्षमता को प्रदर्शित करता है, जो उसके बड़ी शक्ति होने का प्रमाण है।

इस प्रवृत्ति के कारण ही सभी राजनीतिक उद्घोषणाओं और विश्लेषणों में अक्सर भारत को एक बड़ी शक्ति या बड़ी शक्ति की क्षमता वाला देश माना गया है। परमाणु बम के परीक्षण एवं 1998 के बाद से प्रक्षेपास्त्र प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियों के कारण भारत को एक 'बड़ी' शक्ति, कभी 'उभरती' हुई शक्ति एवं कभी 'महाशक्ति' कह कर संबोधित किया जाने लगा है।

क्या किसी प्रकार का Pax-Indica संभव है? स्वतंत्रता पश्चात करीब 1960 के दशक तक भारत के 'युद्धनीतिज्ञ समूह' ने देश को भविष्य में एक महान शक्ति बनना एक नियति माना तथा दो अन्य एशियाई शक्तियों - रूस एवं चीन - को इसका प्रतिद्वंद्वी माना। 1980

के दशक तक भारतीय यथार्थवादियों का महत्वाकांक्षी दृष्टिकोण था, लेकिन उन्होंने भारत की क्षेत्रीय महत्ता को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि समस्त विश्व इस तथ्य को स्वीकार कर ले। दूसरे शब्दों में, देश को दक्षिण एशिया में एक अग्रणी के रूप में प्रस्तुत करना न कि एक आधिपत्य के रूप में। सोवियत संघ के विघटन तथा शीत युद्ध के पश्चात की अनिश्चितता के वातावरण में इस दृष्टिकोण को बल मिला और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने भी भारत को एक बड़ी शक्ति के रूप में स्वीकार किया।

क्षेत्रीय अग्रणी का विचार एक सशक्त एवं उत्तरदायी अंतर्राष्ट्रीय खिलाड़ी की इच्छा के साथ संलग्न था। जटिल नव-यथार्थवाद के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परिवर्तन के समय - जैसा कि सोवियत संघ के विघटन के समय उत्पन्न स्थिति में - मध्यवर्ती शक्तियों को उपरिमुखी गतिशीलता का अवसर मिलता है। 1990 के दशक में भारतीय विदेश नीति के अंतर्गत परमाणु अस्त्रों का सफल परीक्षण, दूर तक मार करने वाली प्रक्षेपास्त्र प्रणाली का विकास तथा अपनी सैन्य क्षमता के बल पर बड़ी शक्तियों के संघ में शामिल होने का मार्ग था।

भारतीय विदेश नीति के यथार्थवादी दृष्टिकोण में कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनकी बार-बार पुनरावृत्ति हुई। सर्वप्रथम सर्वथा यह देखा गया कि चीन भारत का संभावित या वास्तविक सैन्य प्रतियोगी या प्रतिद्वंद्वी है। 1962 के भारत-चीन संघर्ष तथा सीमा विवाद ने इस दृष्टिकोण को बल प्रदान किया है कि दो बड़े और शक्तिशाली पड़ोसियों का प्रतिद्वंद्वी होना तय है - कम से कम समय-समय पर तो अवश्य ही। पाकिस्तान का विद्वेष तथा जम्मू और कश्मीर के ऊपर विवाद, शीत युद्ध के समय सोवियत संघ की तरफ झुकाव एवं उसके साथ 1971 की मैत्री संधि, तथा भारत-अमेरिका संबंधों के हर एक पहलू का चीनी आयाम रहा। चीन का एक आर्थिक एवं सैन्य शक्ति के रूप में उदय का एशिया एवं प्रशांत तथा हिंद महासागर क्षेत्र की सुरक्षा में बढ़ा एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा। परिणामतः क्षेत्रीय समीकरणों के असंतुलन एवं पुनःसंतुलन (बनने-बिगड़ने) से भारत की सुरक्षा और संप्रभुता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा। चीन के इस असंतुलित प्रभाव के जवाब में भारत की विशाल जनसंख्या (जिसका स्थान विश्व में द्वितीय है), बढ़ता हुआ सकल घरेलू उत्पाद तथा कुशल मानव-शक्ति एवं इसके दस लाख से भी अधिक बड़े सुरक्षा बल को हमेशा तैयार रहना होगा। 1998 के परमाणु परीक्षण से पहले का यह घोषित मत कि चीन भारत का शत्रु नंबर एक है, इसी यथार्थवादी चिंतन को प्रदर्शित करता है।

उपर्युक्त वर्णित विचार उस अंतःराज्य संबंध और भू-राजनीतिक विचार की ऐतिहासिक धारणा को व्यक्त करता है, जिसे यथार्थवादी मानते आए हैं। (कुछ यथार्थवादी यह भी मानते हैं कि ऐसा भी संभव है कि भविष्य में एक शक्तिशाली चीन और एक शक्तिशाली भारत मित्र-राष्ट्र भी बन सकते हैं।) चीन की सैन्य चुनौती का प्रतिकार एवं भारत का 'बड़ी शक्ति' के संघ में होना उसके परमाणुकरण को तर्कसंगत ठहराता है। अतः यह तर्क दिया जाता है कि भारत का परमाणु शक्ति होने का निर्णय उसके पाकिस्तान के

संबंधों से स्वतंत्र है। प्रतियोगी सुरक्षा उपागम का एक कथन कि 'हमारे प्रतिद्वंद्वी की असुरक्षा में ही हमारी सुरक्षा है', यथार्थवादियों द्वारा कुछ समय तक प्रोत्साहित किया गया। पाकिस्तान के साथ संबंधों में भारत की विदेश नीति के योजक एवं विश्लेषकों का पर्याप्त समय और ऊर्जा लगा है। एक स्थायी, सुरक्षित एवं लोकतांत्रिक पाकिस्तान भारत के राष्ट्रीय हित में है, न कि एक उद्धत राष्ट्रवादी, निरंकुश और भारत से वैर रखने वाला पाकिस्तान। भारत-पाक संबंधों में कई समस्याएँ पाई गई हैं। पाकिस्तान के पश्चिम गुट के साथ संबंधों ने शीत युद्ध को भारत की दहलीज पर लाकर खड़ा कर दिया। इन संबंधों द्वारा उत्पन्न समाप्ति के भय को दूर करने के लिए भारत ने एक अत्यंत कुशल कूटनीति का सहारा लिया। पश्चिमी देशों, विशेष तौर पर अमेरिका ने पाकिस्तान को अपने अंतर्राष्ट्रीय सैन्य हितों के दृष्टिकोण से देखा है। प्रथम, उसे सोवियत विस्तार के विरुद्ध एक बचाव के रूप में देखा गया तथा सोवियत संघ द्वारा अरब सागर/हिंद महासागर की उष्ण जल की खोज ने पाकिस्तान को शीत युद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा अग्रिम पंक्ति का देश घोषित किया गया। 1978 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में हस्तक्षेप ने पाकिस्तान को पुनः एक अग्रिम पंक्ति का देश बना दिया - इस समय पूर्व एवं पश्चिम के इस महायुद्ध में पाकिस्तान को एक माध्यम के रूप में मुजाहिदीनों को धन एवं हथियार देने के लिए प्रयोग किया गया। 11 सितंबर, 2001 को अमेरिका में हुए आतंकवादी हमले के फलस्वरूप पाकिस्तान पुनः अग्रिम पंक्ति का देश बन गया और इस बार अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद से लड़ने के लिए। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी देश मध्य एशियाई क्षेत्र के खनिज तथा प्राकृतिक गैस के उपयोग के लिए पाकिस्तान को एक प्रवेश-द्वार मानते हैं। भारतीय विदेश एवं सुरक्षा नीति निर्माताओं ने शायद कभी भी इस धारणा पर गौर नहीं किया कि अमेरिकी शक्ति का ह्रास हो सकता है, जोकि शीत युद्ध के दौरान नव-यथार्थवादियों के बीच प्रचलित था।

एक अन्य चिंता का विषय है - 'चीन-पाकिस्तान धुरी'। पाकिस्तान चीन का उस समय से सबसे भरोसे का साथी है, जब चीन अंतर्राष्ट्रीय मसलों में अलग-थलग पड़ गया था। चीन का पाकिस्तान को गुप्त रूप से उसके परमाणु एवं प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रम में मदद देना, उनके भारत-विरोधी रिश्ते को दिखाता है। कुछ बाहरी शक्तियों और दबाव का उद्देश्य भारत और पाकिस्तान के बीच सैन्य समानता लाना है, जोकि भारतीय विदेश नीति निर्माताओं एवं नेतृत्व के लिए चिंता का विषय है। भारत क्षेत्र, जनसंख्या, सकल घरेलू उत्पाद, सैनिक क्षमता आदि में पाकिस्तान से कई गुना बड़ा है। पाकिस्तान से सैन्य समानता की यह बाहरी विचारधारा, उसके बड़ी शक्ति होने के भारत के दावे पर रूकावट खड़ी करती है। अंतर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय शक्तियों का अभिमुख होना तथा जम्मू और कश्मीर विवाद ने भारत-पाकिस्तान संबंधों को कटु बना दिया है। यथार्थवादियों का कहना है कि पाकिस्तान के साथ विरोध राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक है। पाकिस्तान भारत की सीमा-पार से जम्मू-कश्मीर एवं पूर्वोत्तर राज्यों में आतंकवादियों को मदद करना जैसी कई घरेलू समस्याओं का स्रोत है।

2.3 अंतर-निर्भरता (परस्पर निर्भरता) तथा जटिल अंतर-निर्भरता पर विचार

एक प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार भारत के घरेलू कारक तथा विदेश नीति प्राथमिकताओं के बीच गहरा संबंध है। राजनीतिक-सैनिक सुरक्षा से संबंधित संकीर्ण तथा सामान्य धारणा न सिर्फ गतिहीन है, बल्कि पुरानी भी है। 1990 के दशक में अधिकतर लेखों में यह कहा गया है कि भारत की विदेश नीति राजनीतिक अस्थिरता एवं विचारधारा की इस अनिश्चितता से गुजर रही है कि बाह्य संबंधों का मूलभूत लक्ष्य तथा उचित साधन कैसा होगा।

एक बात जिसे लगातार महसूस किया जा रहा है, वह यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, अंतर-राज्य व्यवस्था से कहीं अधिक है क्योंकि इसमें विभिन्न प्रकार के गैर-राज्य एवं परा-राज्य कर्ता/पात्र और संबंध शामिल हैं। इसके अंतर्गत परा-राष्ट्रीय निगम और गैर-सरकारी संगठनों, अंतर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठनों और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के समूह आते हैं। संक्षेप में, यह अखंडनीय है कि जो नीति निर्माण को प्रभावित करते हैं या जिनका हित इसमें सम्मिलित हो, ऐसे सामाजिक पात्र एवं गैर-सरकारी पात्र, घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय दोनों हैं।

इसके अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि सैनिक-राजनीतिक सुरक्षा किसी भी देश की सुरक्षा का सिर्फ एक पहलू है, तथा यह परिभाषा सिर्फ संकीर्ण ही नहीं बल्कि गतिहीन भी है। पर्यावरण प्रदूषण, सीमा-पार विस्थापन, अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद का जाल, अपराध तथा गैर-कानूनी तरीके से पूँजी का हस्तांतरण तथा दक्षिण के देशों में बढ़ती गरीबी एवं उत्तर व दक्षिण के बीच बढ़ता आमदनी का अंतर जैसे कुछ विषय पर्यावरण, आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा व संप्रभुता से संबंधित है। महाशक्तियाँ (जोकि अंतर्राष्ट्रीय संबंध की दिशा को प्रभावित करने में सक्षम हैं) भी समस्त विश्व की उस चुनौती का सामना कर रही हैं, जो अत्यधिक अंतर-निर्भरता व बहु-ध्रुवीय हैं। नई चुनौतियों का सामना करने के लिए नए तरीके के अंतर-राज्य सहयोग तथा परा-राज्य गतिविधियों की आवश्यकता है।

शीत युद्ध के पश्चात तथा तेजी से हो रहे आर्थिक एकीकरण से अंतर्राष्ट्रीय संबंध अंतर-निर्भर हो गए हैं। पश्चिम के विकसित देशों तथा दक्षिण के विकासशील देशों के बीच बढ़ते हुए सामाजिक एवं आर्थिक तथा सभी विकासशील देशों के अंतर्गत विशिष्ट वर्ग एवं गरीबों की विशाल जनसंख्या के बीच बढ़ता हुआ अंतर या विकासशील देशों में जनसंख्या विस्फोट तथा सीमा-पार एवं अंदर विस्थापन और विश्व-व्यापी पर्यावरण प्रदूषण आदि समस्याओं पर यथार्थवादी विचार नहीं करते हैं। इन समस्याओं के कारण यथार्थवादियों द्वारा प्रतिपादित सुरक्षा से संबंधित दृष्टिकोण का पतन हो रहा है तथा यह पुराना भी हो चुका है।

अंतर-निर्भरता आर्थिक वैश्वीकरण के पहलुओं को रेखांकित करता है, अर्थात् परा-राष्ट्रीय

आर्थिक कर्ता/प्रतिनिधि, प्रक्रिया एवं संस्थाओं का उदय। ये परा-राष्ट्रीय निकाय हैं - विश्व व्यापार संगठन, विश्व मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा जी-7 के देश। वित्त का विस्तार एवं ढाँचा, तकनीकी नियंत्रण व्यवस्था, विकसित देशों के बाज़ार में प्रवेश के लिए या ऋण तथा सहायता के लिए बढ़ती हुई राजनीतिक एवं सामाजिक शर्तें लादना, औद्योगिक देशों - विशेष तौर पर अमेरिका - द्वारा विकासशील देशों पर विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) के मसले पर सामूहिक दबाव डालना ताकि वे अपनी कृषि, औद्योगिक, सेवा एवं आर्थिक क्षेत्र को विश्व वित्तीय एवं आर्थिक कर्ताओं/पात्रों के लिए खोल दे आदि, जिससे आर्थिक संप्रभुता का अर्थ ही पुराना पड़ जाए। कई सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली देशों को भी आर्थिक मंदी का सामना करना पड़ा तथा 1990 के दशक में तो कई देशों का पतन भी हो गया। भारतीय विदेश नीति की एक मुख्य चुनौती यह है कि वह इन उभरते हुए अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थागत ढाँचों में किस प्रकार हस्तक्षेप करे। दूसरे शब्दों में, भारत की विदेश नीति वर्तमान तथा भविष्य में आर्थिक मामलों में काफी प्रभावित रहेगी। प्रश्न यह उठता है कि विश्व अर्थव्यवस्था में भारत का क्या स्थान रहेगा? यह प्रश्न शायद भारत के महाशक्ति बनने की स्थिति के लक्ष्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है। भू-अर्थशास्त्र ने भू-राजनीति पर वरीयता या श्रेष्ठता प्राप्त कर ली है। आज राष्ट्रीय सुरक्षा नागरिकों की समृद्धि तथा रहन-सहन के स्तर से जुड़ी है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार, भारत को स्वयं को यथार्थवादी ढाँचे से तथा उसके पश्चात बड़ी शक्ति की स्थिति से मुक्त करना होगा। सर्वप्रथम, इस अंतःनिर्भर विश्व में महाशक्तियाँ भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रक्रिया को निर्णायक ढंग से प्रभावित नहीं कर सकती हैं। यह कथन इस समय विश्व की एकमात्र महाशक्ति मानी जाने वाले अमेरिका पर भी चरितार्थ होता है जिसने शीत युद्ध के दौरान न कि शीत युद्ध के पश्चात ज्यादा प्रभावित किया। इंग्लैंड, फ्रांस एवं संभवतः जर्मनी एवं जापान जैसी अन्य बड़ी शक्तियों का प्रभाव और भी कम है। जटिल अंतःनिर्भर विश्व में शक्ति एवं प्रभाव का अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अंतर्गत विस्तार हुआ है जोकि बहु-ध्रुवता तथा शक्तियों के सामंजस्य के उदय का समर्थन करता है। इन शक्तियों में भारत भी शामिल है। यह आवश्यक है कि भारत उन अवसरों का विवेकपूर्ण तरीके से लाभ उठाए, जिन्हें वैश्वीकरण ने प्रदान किया है। भारत को अपने आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए समान विचार वाले देशों के साथ गठबंधन करना चाहिए।

भारत के यथार्थवादियों ने चीन को एक संभावित बड़ी शक्ति या भविष्य की महाशक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। यह सलाह भी दी गई है कि भारत को चीन के साथ आर्थिक गठबंधन करके लाभ उठाना चाहिए तथा व्यावहारिक तरीके से आदान-प्रदान की प्रक्रिया से सीमा-विवाद को सुलझाना चाहिए। आज के समय में यह जरूरी नहीं है कि भौगोलिक निकटता एक प्राकृतिक तौर पर प्रतिद्वंद्विता के संबंध उत्पन्न करे। इसके विपरीत, यह परा-सीमा व्यापार, निवेश तथा संयुक्त उत्पादन व्यवस्था की शुरुआत हो सकती है। चीन तथा भारत के बीच का व्यापार भू-अर्थशास्त्र के सिद्धांत को सही ठहराता है।

आलोचकों का मानना है कि क्षेत्रीय अग्रता की यथार्थवादी धारणा ने अनेक समस्याओं

को जन्म दिया है। इसके स्थान पर भारतीय विदेश नीति को दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग पर ध्यान देना चाहिए। सामान्यतः दक्षिण एशिया केंद्रित विदेश नीति के दो पहलुओं पर बल दिया गया है। कम तथा मध्यम अवधि के लिए पाकिस्तान के साथ रिश्तों में तनाव घटाने के तरीके पर बल दिया गया है जिससे धीरे-धीरे संबंधों में बदलाव आ जाए। भारत को पाकिस्तान के साथ शांति अभियान शुरू करना चाहिए, जैसे विश्वास-निर्माण की दिशा में कदम, परमाणु तथा उससे संबंधित मुद्दों की जाँच के लिए पारस्परिक व्यवस्था करना, नागरिक समाज का अधिकतम मिलना-जुलना आदि। दूसरे, इस धारणा के अनुसार भारत को दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग के लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। एक सशक्त दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन 'सार्क' के अभाव में अन्य क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों - जैसे एशिया-प्रशांत आर्थिक सम्मेलन (एपेक) अथवा दक्षिण अमेरिकी सामान्य बाज़ार (मरकोसूर) - आदि के साथ आर्थिक कूटनीति का एक सीमित लाभ मिलेगा, और भारत को स्वयं को भी भविष्य में क्षेत्रीय प्रमुखता का मौका मिलेगा। क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग अंततः दक्षिण एशिया में एक राजनीतिक समुदाय के गठन के एक साधन के रूप में देखा गया है, जोकि एक लंबे समय में इस क्षेत्र से अन्य बाह्य शक्तियों को दूर रखने के लिए आवश्यक है। एक जटिल दक्षिण एशिया केंद्रित नीति के द्वारा ही अशांत अंतःराज्य संबंधों का एक स्थायी एवं संतोषजनक हल निकल सकता है - चाहे वह कश्मीर में अलगाववाद का मुद्दा हो, सीमा-पार आतंकवाद, बंगलादेशी घुसपैठिये या शरणार्थी हों, या श्रीलंका में तमिल का मुद्दा हो।

अंतःनिर्भरता एक भिन्न प्रकार की व्यावहारिकता की बात करती है, जोकि व्यापार एवं आर्थिक सहयोग पर केंद्रित है। परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट हैं। उदाहरण के तौर पर, विदेश आर्थिक नीतियों में वित्त मंत्री का योगदान बढ़ गया है, जबकि विदेश मंत्रालय, विशेषकर विदेशों में भारतीय दूतावासों का योगदान सहूलियत प्रदान करने का रह गया है। घरेलू क्षेत्रों में विदेश नीति का प्रभाव तथा निगम क्षेत्र की भूमिका बढ़ गई है। सरकार भले ही नीतियों का निर्माण करती है, परंतु निगम ही उसे कार्यान्वित करते हैं। यह एक विवादास्पद विषय है कि क्या भारत के निगम क्षेत्र 'युद्धनीति समुदाय' के एक प्रभावशाली सदस्य बन सके हैं?

यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त विश्लेषण यथार्थवादी दृष्टिकोण का एक भाग है, जोकि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में परिवर्तन को स्वीकार करता है। भारत की नीति है कि वैश्वीकरण की तरफ पूरी तरह से बढ़े बिना ही राष्ट्रीय हित एवं सुरक्षा के परंपरागत राजनीतिक-सैन्य आयाम को छोड़े बिना ही, किसी तरह आगे बढ़ते जाना।

2.4 नई विश्व व्यवस्था

धनी एवं गरीब तथा कमजोर और शक्तिशाली के बीच अंतःनिर्भरता एक विषम संबंध को जन्म देती है। यह गरीब एवं कमजोर को धनी एवं शक्तिशाली के ऊपर निर्भर करती है। वैश्वीकरण का अर्थ, अन्य बातों के अलावा, यह भी है कि नीति निर्माण का केंद्र राष्ट्रीय संप्रभुता के नियंत्रण से स्थानांतरित हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में घटती हुई

स्वायत्तता का अर्थ है - नीति निर्माण शक्ति का हास सिर्फ आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी हुआ है। चाहे वह निवेश से संबंधित नीतियाँ हों, प्रौद्योगिकी का आयात या विदेशी ऋण हो, उनके साथ शर्तें जुड़ी होती हैं। ये शर्तें सिर्फ आर्थिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक एवं सामाजिक-लोकतांत्रिक व्यवस्था को भी क्षति पहुँचाती हैं। इससे सरकार न सिर्फ शक्तिहीन बल्कि अलोकप्रिय और असंवैधानिक बनकर रह जाती है। इसके साथ-साथ इसके परिणाम सामाजिक सामंजस्य एवं स्थायित्व के लिए भी हानिकारक हैं। आंतरिक तरीके से सर्वसम्मति होना तथा विचारधारा की पसंद या वरीयता को त्याग कर प्रत्येक देश ने आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय मान्यता-प्राप्त नियमों को अपनाया है। लोगों का आत्म-विश्वास तथा आत्म-ज्ञान का हास हो रहा है तथा इसका स्थान कटुता एवं असंतोष ले रहा है। इससे उग्र राष्ट्रीयता एवं रूढ़िवाद बढ़ रहा है। भारत की घरेलू अर्थव्यवस्था एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी अमेरिका तथा अन्य बड़ी शक्तियों का दबाव एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष/विश्व बैंक का हस्तक्षेप बढ़ रहा है।

इस नई प्राधान्य विश्व-व्यवस्था का सर्वप्रमुख आयाम है - वैश्वीकरण। इसे अमेरिकी नेतृत्व में पश्चिमी देश भारत सहित दक्षिण के देशों के ऊपर थोप रहे हैं। इसका एक महत्वपूर्ण नतीजा है कि भारतीय विदेश नीति से नेहरूवादी दृष्टिकोण का हास हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भारत का स्थान न सिर्फ संकुचित हुआ है बल्कि गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति में उसके कार्य की स्वायत्तता एवं नैतिक दृष्टिकोण का भी पतन हुआ है। अमेरिकी नेतृत्व द्वारा प्रचलित नई विश्व व्यवस्था के सिद्धांत ने दक्षिण के देशों की राष्ट्र-राज्य की धारणा को खतरे में डाल दिया है। कई राज्यों का विघटन हुआ है, और कई दूसरों में वहाँ की जनता की रक्षा एवं कल्याण के नाम पर हस्तक्षेप किया गया है। नई विश्व-व्यवस्था ने परिश्रमपूर्वक सर्वसम्मति से तैयार की गई एक स्वतंत्र विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा, राष्ट्रीय एकता एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था को संकट में डाल दिया है।

आलोचकों ने भारत को नई विश्व व्यवस्था से खतरा बताते हुए आगाह किया है और चेतावनी भी दी है कि कहीं राष्ट्रीय लक्ष्य एवं आकांक्षाएँ, अमेरिकी एकपक्षीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की शर्तों की बंधक बन कर न रह जाएँ।

2.5 गुटनिरपेक्षता एवं नेहरूवादी सर्वसम्मति

काफी समय के लिए, विशेष तौर पर नेहरूवादी समय में, गुटनिरपेक्षता भारतीय विदेश नीति के अध्ययन का एक मुख्य दृष्टिकोण था। भारत में कभी भी विश्व का दृष्टिकोण एवं वहाँ उसका स्थान इतना संसक्त नहीं रहा जितना कि वह गुटनिरपेक्षता के स्वर्णकाल के दिनों में 1950 एवं 1960 के दशकों में था। 1970 के दशक तक भारतीय विदेश नीति का लक्ष्य एवं साधन सामंजस्य के बजाए संसक्त था, जब नेहरूवादी सहमति का पतन हुआ क्योंकि भारतीय विदेश नीति अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर उच्च नैतिकता का पालन करती थी, तथा 1962 के चीनी आक्रमण के कारण गुटनिरपेक्षता भारतीय सुरक्षा को निश्चित करने में असक्षम रही, और भारत की बड़ी शक्ति की महत्वाकांक्षा को धक्का लगा। यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि तृतीय विश्व एकता, जो

गुटनिरपेक्षता का आधार था, आज भी भारतीय विदेश नीति को महत्वपूर्ण तरीके से प्रभावित करती रही है।

नेहरूवादी सर्वसम्मत भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के काल में विकसित आदर्शों एवं सिद्धांतों पर आधारित था। राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी का गहरा प्रभाव था। हम लोगों ने जो संघर्ष किया, वह राजनीतिक स्वतंत्रता मात्र नहीं था बल्कि भारतीय सभ्यता का सांस्कृतिक एवं नैतिक उदय था। नेहरू ने दो विश्व युद्धों के मध्य की अंतर्राष्ट्रीय संबंध की व्याख्या करने के लिए गांधीवादी नैतिक और सामाजिक आवश्यकताओं का संयोजन किया। नेहरू ने यह स्थापित किया कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के दो प्रमुख प्रतिमान हैं शक्ति की राजनीति; एवं बल प्रयोग का भय। इन प्रतिमानों के कारण ही प्रथम विश्व युद्ध भड़का, राष्ट्र संघ की विफलता हुई, फासीवाद का उदय हुआ तथा सह-बंधन की राजनीति एवं उसके विपरीत सह-बंधन के कारण ही द्वितीय विश्व-युद्ध की शुरुआत हुई। नेहरू को इस बात का ज्ञान था कि अमेरिका और सोवियत संघ के बीच की प्रतिद्वंद्विता का कारण भी यही प्रतिमान है।

यह शोधकर्ताओं के बीच तर्क का विषय है कि नेहरू आदर्शवादी थे तथा उन्होंने भारतीय विदेश नीति को कुछ आदर्शों पर आधारित करना चाहा, अथवा यथार्थवादी थे जो कूटनीति के सहारे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की शक्ति की राजनीति का निवारण चाहते थे। भारतीय विदेश नीति को गुटनिरपेक्षता के सिद्धांतों पर आधारित कर नेहरू अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में नियामक परिवर्तन लाना चाहते थे, तथा उसके पश्चात भारत के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करना चाहते थे।

उन्होंने इन लक्ष्यों की पूर्ति कैसे की? प्रथम, गुटनिरपेक्षता एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित देशों की स्वतंत्रता और कार्यों में स्वतंत्रता पर आधारित थी। इस प्रकार, नेहरूवादी विदेश नीति संप्रभु राष्ट्र-राज्य को अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एक इकाई मानती है। द्वितीय, नेहरू संघर्ष (जो शक्ति की राजनीति पर आधारित है) के विपरीत अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अंतःराज्य सहयोग को प्रोत्साहित करना चाहते थे। यह आदर्शवाद एवं कठोर राष्ट्रीय हित का मिश्रण था जो उनके संरक्षण में भारतीय विदेश नीति के कम से कम तीन महत्वपूर्ण मामलों में दिखाई पड़ता है। गुटनिरपेक्षता उस संकट की प्रतिक्रिया थी जो अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में दो महाशक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई थी, जिनके पास परमाणु हथियार थे, तथा जो विश्व के कमजोर देशों को अपने अधीन एवं नियंत्रण में रखना चाहते थे। इस प्रकार, महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा पश्चिम से बाहर भी फैलने लगी तथा इसके अंतर्गत विकासशील देश भी आ गए, जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था संकट में पड़ गई। दूसरे शब्दों में, शीत युद्ध के कारण सर्वव्यापक लोकतांत्रिक अंतर्राष्ट्रीय समाज का पतन होने लगा। गुटनिरपेक्षता वह सैद्धांतिक और एक दूरदर्शी कदम था जो गुट की राजनीति द्वारा तेजी से हो रहे अंतर्राष्ट्रीय लोक स्थान के ह्रास के विरुद्ध स्वायत्तता के लिए स्थान का विस्तार एवं सुरक्षा चाहता था। नेहरू एक अनुभूतिक्षम यथार्थवादी थे जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबंध की दिशा को पहचान लिया था तथा भारत एवं अन्य संघर्षरत उपनिवेशों को 1946 से ही द्विध्रुविता के खतरों के विरुद्ध प्रेरित किया।

भारतीय विदेश नीति के नेहरूवादी दृष्टिकोण की यह आलोचना की जाती है- कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मामलों को महत्व नहीं देता है। परंतु गुटनिरपेक्ष दृष्टिकोण के समर्थकों का कहना है कि विदेश नीति के निर्माण की स्वायत्तता पर बल देकर तथा शीत युद्ध के प्रसार को रोक कर राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न को हल किया गया है। भारत के पाकिस्तान के साथ संबंधों ने इस बात की पुष्टि कर दी कि गुटनिरपेक्षता आदर्शवाद से कहीं बढ़ कर थी। गुटनिरपेक्षता ने पश्चिम की तरफ से मिले अवसरों से अपने को दूर नहीं किया था, भारत के विरुद्ध सोवियत-चीन धुरी के निर्माण को हतोत्साहित किया (जो 1957 तक अच्छे मित्र थे), तथा कश्मीर के मसले पर भारत एवं पाकिस्तान के रिश्ते को अक्षुण्ण रखा जबकि पाकिस्तान पश्चिमी गठबंधन का सदस्य था। चीन द्वारा भारतीय सुरक्षा की चुनौती का सामना भी नेहरू ने इसी कूटनीति से किया। प्रथम, पंचशील एवं हिंदी-चीनी भाई-भाई एवं इसके बाद ख्रुश्चेव के समय सोवियत संघ से निकट संबंध स्थापित करके (जिसने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को अपना 'स्वाभाविक मित्र' कहकर स्वीकार कर लिया)। चीन से युद्ध में हार के बावजूद कुशल कूटनीति पर विश्वास रहा ताकि भारत एक महत्वपूर्ण शक्ति रहे और इसी समय अंतर्राष्ट्रीय संबंध को शक्ति की राजनीति से दूर रखना, नेहरू के कार्यकाल में भारतीय विदेश नीति की पहचान है।

आज बदले हुए परिवेश में नेहरूवादी सहमति की प्रासंगिकता पर सवाल उठ रहे हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सैन्य बल से ज्यादा कुशल कूटनीति पर आश्रय आज ज्यादा प्रासंगिक हो गया है क्योंकि अब भारत सभी शक्तियों के साथ अनुकूल संबंध एवं आर्थिक सहयोग बढ़ाना चाहता है। यह उस दृष्टिकोण के विपरीत है जो यह कहता है कि 'नेहरूवादी सहमति' पुराना सिद्धांत हो चुका है तथा उसका परित्याग कर दिया गया है। कुछ हद तक वह अंतर्राष्ट्रीय लोक स्थान, जिसने कि नेहरू तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन को कार्य करने की स्वायत्तता दी, का हास हो रहा है। इसके अतिरिक्त, गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने स्वयं ही आंतरिक सामंजस्य एवं एकता को खो दिया, अतः उसकी प्रासंगिकता पर सवाल उठ खड़े हुए हैं।

गुटनिरपेक्ष विदेश नीति को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बृहत सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक प्रसंग में रखकर, विश्लेषकों ने भारत की विदेश नीति के कार्यान्वयन एवं चिंतन में नेहरू के व्यक्तिगत प्रभाव को जोशीली श्रद्धांजलि दी है। नेहरू अंतर्राष्ट्रीय मामलों के उत्सुक प्रेक्षक थे तथा उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अंतर्राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर अपने दृष्टिकोण एवं विचार के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण समय व्यतीत किया। वह स्वयं विदेश मंत्री भी थे। उन्होंने प्रधानमंत्री के पद पर बने रहते हुए भारतीय विदेश नीति का निर्माण किया तथा सरदार पटेल, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डॉ. राधाकृष्णन एवं वी.के.कृष्ण मेनन जैसे अपने बहुत करीबी मंत्रियों तथा ग्रेपालस्वामी अयंगर, सर वी.एन.राव, सर गिरिजा शंकर बाजपेयी एवं भारत के प्रथम विदेश सचिव के.पी.एस. मेनन-सीनियर सरीखे अधिकारियों से सलाह लेते थे। नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल के शुरु में सांस्थानिक एवं संरचनात्मक नीति निर्माण प्रक्रियाएँ या तो कमजोर थीं, या उनका अभाव था। भारत के पूर्व विदेश सचिव जे.एन.दीक्षित के अनुसार 'नेहरू राष्ट्रीय महत्व एवं हितों को समझते थे, नीतियों एवं विकल्पों की परिकल्पना कर सकते थे, तथा विदेश नीति से संबंधित किसी भी पहलू

पर कोई नीति या कार्यवाही शुरू करते थे। विदेश मंत्रालय में उन्हें सभी नीतियों एवं प्राथमिकताओं पर अबाधित राष्ट्रीय सहमति का समर्थन प्राप्त था। वे भारतीय विदेश नीति के महत्वपूर्ण पक्षों पर मंत्रिपरिषद, संसद, राजनीतिक दल एवं जनमत को साथ लेकर चलने में सक्षम थे।

2.6 सारांश

भारतीय विदेश नीति विभिन्न प्रभावों, तत्वों, लक्ष्यों तथा प्रक्रियाओं का मिश्रण है। इसी कारण भारत की विदेश नीति के अध्ययन के लिए कोई एक निश्चित सैद्धांतिक उपागम नहीं है। भारत की विदेश नीति के अध्ययन के लिए सबसे उपयुक्त विभिन्न दर्शनग्राही/उदार उपागम है। भारतीय विदेश नीति की रचना/लेखन में एक देशी विशेषता झलकती है। ये लेखन भी विभिन्न दबाव एवं तत्वों – घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय – का जवाब देते रहे हैं। राजनेता, नीति निर्धारक एवं कर्ता भी अपने विचारों और प्रक्रियाओं को किसी एक सैद्धांतिक ढाँचे में नहीं रख सकते हैं।

यद्यपि विभिन्न उपागमों के अध्ययन से उन सिद्धांतों एवं आदर्शों, प्रक्रियाओं और साधनों, पात्र और उन दबावों का पता चलता है जो विदेश नीति के लक्ष्यों एवं उचित साधनों के लिए ज़रूरी है। अतः भारतीय विदेश नीति के उपागमों की विषय-वस्तु के अध्ययन का यही उद्देश्य है।

2.7 अभ्यास

1. भारतीय विदेश नीति के यथार्थवादी दृष्टिकोण का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. 'नेहरूवादी सर्वसम्मत' से आप क्या समझते हैं?
3. भारतीय विदेश नीति के अध्ययन में यथार्थवादी और अंतःनिर्भरता उपागमों में मुख्य अंतरों को स्पष्ट कीजिए।